

साहित्य में विषय-वस्तु से अधिक शब्दों का प्रयोग बहुत मायने रखता है। परन्तु कुछ लोग सामाजिक सच को स्वीकार करने के बजाय शब्दों को ही विवाद के पचड़े में डाल देते हैं। ताजा मामला हिमाचल प्रदेश के पाठ्यक्रम से दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' को कोर्स से हटा देने की मांग करना है। आरोप है कि यह उपन्यास है जो हमारे समाज की सौ साल पुरानी बुराइयों को सामने लाकर नफरत फैलाता है। यह तथ्यतय गलत है। वाल्मीकि जी ने अपने छात्र जीवन को इसमें खासकर लिखा है यह आत्मकथा है। 'जूठन' को पाठ्यक्रम से हटाने के बजाय उन स्थितियों को बदला जाए जिनमें आज भी ग्रामीण भारत में वाल्मीकि समाज को बचा हुआ खाना खाना पड़ता है। देश में स्वच्छ भारत अभियान चल रहा है। लेकिन वाल्मीकि समाज आज भी बिना सुरक्षा उपकरणों के सीवर में उतर रहे हैं, और कितने की बेमौत मर रहे हैं।

'जूठन' सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा वाणी प्रकाशन से पत्रकार राजकिशोर के संपादन में छपा था। 1997 में छपकर आई तो भूमिका से पता चला कि 'जूठन' शीर्ष हंस के संपादक राजेन्द्र यादव ने सुझाया था। साथ ही उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक को भी मानसिक संबल देने वालों में शुमार



**सम्पादक-डॉ० सोहनपाल सुमनाक्षर**

□ वर्ष 56 □ अंक-18 □ दिल्ली □ जुलाई, 2018 (प्रथम) □ मूल्य : 2 रु.

## दलित साहित्य-विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में शामिल किया जाये

किया था। जूठन में कालीराम हेडमास्टर का चरित्र चित्रण शिक्षकों में सुधार की जरूरत को रेखांकित किया है।

'जूठन' के लेखक को 'चंद्रिका प्रसाद' जिज्ञासु द्वारा लिखित बाबा साहब अम्बेडकर का जीवन परिचय इन्द्रेण नगर के उस पुस्तकालय से हुआ जिसे जाटव चलाते थे। वाल्मीकि के शब्दों में उस पुस्तकालय में अम्बेडकर की लिखी जो पुस्तकें थीं, वे सभी पढ़ डालीं। इसके लिए हेमलाल जाटव का आभार व्यक्त किया। उसने

सचमुच मुझे नई राह दिखाई थी। कहा जा सकता है कि 'जूठन' खुद एक राह दिखा रही है। अरुण प्रभा मुखर्जी द्वारा अंग्रेजी अनुवाद के बाद यह कृति देश की सीमाओं के बाहर भी पढ़ी जा रही है। पाठ्यक्रम को विविधतापूर्ण, लोकतांत्रिक और उन्नत बनाने के लिए प्रो. कालीचरण 'स्नेही' प्रो. रामचंद्र जैसे कई विशेषज्ञों का योगदान है। गैरदलित दलित प्रोफेसरों की बढ़ी संख्या है हिंदी के इतर। मराठी, पंजाबी अंग्रेजी आदि भाषाओं में दलित साहित्य पढ़ाया जाता है।

**● प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन**

दिल्ली विश्वविद्यालय के एम.ए. पाठ्यक्रम में ले दे के दलित साहित्य की अगर कोई कृति पढ़ाई जाती है तो वह छात्रों को बाहर से पढ़ना पड़ता है।

दलित साहित्य पाठ्यक्रम में आया तो स्कूलों और विश्वविद्यालयों के बाहर पाठकों के बढ़ते दबाव के कारण आया है। साहित्य के दर्पण में छात्र और शिक्षक सामाजिक यथार्थ की वास्तविक तस्वीर देखने लगे। यह सामाजिक

उपचार करने के लिए बीमारी को चिन्हित करने के उद्देश्य से बहुत ही आवश्यक कदम हैं, परन्तु कुछ दिनों से सरकार को दलित साहित्य विरोधी साबित करने के उपक्रम में लगे कुछ लोग दलित साहित्य की कृतियों पर हमले कर रहे हैं। हालांकि कुछ दलित अध्यापक भी अपनी तंगनजरी के कारण स्तरीय दलित साहित्य को पाठ्यक्रम में नहीं रखने दिए हैं। जबकि हैदराबाद विश्वविद्यालय में दलित साहित्य और आदिवासी साहित्य अध्ययनपीठ अलग से अध्ययन करा रहे हैं। डी.यू. में प्रो. दीपक पेटल के वी.सी. होने और प्रो. सुखदेव थोरात के यूजीसी अध्यक्ष काल में दिल्ली विश्वविद्यालय में दलित साहित्य की स्वतंत्र अध्ययन पीठ खोलने की बात चली थी, परन्तु वह बात अंजाम तक नहीं पहुंची। माना गया कि दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर स्वतः दलित साहित्य की विभिन्न विधाओं कविता, कथा और दलित पत्रकारिता एवं आलोचनादि से परिचित कराने के लिए समाज सरोकारी दृष्टि अपना लेंगे। परन्तु वे 'जूठन' से आगे बढ़ने को तैयार नहीं हुए हैं। पाठ्यक्रम की हैरतंगेज कहानी यह भी है 'जूठन' की तरह कई अन्य रचनाएं जो स्नातक स्तर पर पढ़ाई जाती हैं, उन्हीं को स्नातकोत्तर में सी पाठ्यक्रम में रख छोड़ा है। ऐसा भी नहीं है कि दलित साहित्य को पाठ्यक्रम में रखने का

(शेष पृष्ठ 2 पर)

# दलित जब जागें तभी सवेरा

हरियाणा के हिसार जिले में अग्रोहा शहर है जिसे उत्खनन करके जमीन के अन्दर से खोद निकाला गया था। देश के अग्रवाल (वैश्य)

इस 'अग्रोहा' को अपना मूल निवास मानते हैं और यहां के महाराजा अग्रसेन को अपना आदि देव मानकर पूजा करते हैं। अग्रोहा शहर में आज अग्रवाल समाज ने उनके नाम पर शिक्षण संस्थान— स्कूल, कालेज, यूनिवर्सिटी स्थापित किये हैं, जहां इन्जीनियरिंग, मेडीकल साइंस तथा अन्य विषयों में प्रशिक्षण दिया जाता है। अपनी शिक्षण संस्थाएँ हैं, अतः प्रवेश में प्राथमिकता भी उन्हें ही मिलती है। आज देश में अग्रवाल (वैश्य) जाति धनसम्पन्न है और आत्मनिर्भर है। इसलिए सत्ता, शासन, प्रशासन पर उनका पूरा दबदबा है। पर यह समाज ऐसा कैसे बना?

अग्रोहा राज्य के विषय में चर्चित है कि इस राज्य में रहने वाले लोग एक ही 'अग्रवाल' परिवार के लोग थे जो एक दूसरी की तन मन धन से मदद करते थे। अगर वहां कोई गरीब भाई अपना मकान बनाता है तो शहर का प्रत्येक व्यक्ति उसे मकान बनाने के लिए 'एक ईंट और एक रुपया' भेंट में देता था। इससे उसका मकान भी बन जाता था और उसकी पारिवारिक आर्थिक स्थिति भी मजबूत हो जाती है जिससे वह अपना

कारोबार, काम धन्धा व व्यवसाय का विस्तार करके अपने अन्य भाइयों को भी रोजगार मुहैया कराता था। यह आपसी सहयोग की मिशाल अग्रवाल (वैश्य) जाति में आज भी बादस्तर जारी है, इसलिए देश में अग्रवाल (वैश्य) समाज में न गरीबी है, न बेरोजगारी और न वे अन्य किसी की सहायता को मोहताज हैं। मनु की वर्ण व्यवस्था में वैश्य जाति तीसरे वर्ण में आती है, पर आर्थिक सम्पन्नता में वह सर्वोपरि आत्मनिर्भर वर्ण है।

हिन्दू वर्ण व्यवस्था में पहला वर्ण, ब्राह्मण वर्ण तथा दूसरा वर्ण क्षत्रिय वर्ण है। जहां ब्राह्मण वर्ण का शिक्षा—दीक्षा, दान—दक्षिणा, पूजा पाठ, मन्दिर—घाट पर शत प्रतिशत एकाधिकार आज भी कायम है, वहीं क्षत्रिय वर्ण सत्ता, शासन, प्रशासन, जमीन—जायदाद पर शत प्रतिशत एकाधिकार अपने क्षत्रिय लोगों के लिए आरक्षित किये हुए हैं।

ब्राह्मण वर्ण का कोई भी व्यक्ति देश के किसी भी कोने में रहता हो, वह अपनी जाति व गोत्र का नाम लेकर और दो टक्के का जनेऊ पहनकर देश में कहीं भी गर्व के साथ घूमते हुए मन्दिरों, घाटों, आश्रमों, विद्यामन्दिरों में सम्मान के साथ रह

सकता है। वहां के ब्राह्मण पुजारी के लिए वह उनका 'अतिथि' है और हिन्दू शास्त्रों में 'अतिथि देवो भवः' का श्लोक अपनी जाति के ऐसे घुम्मकड़ भाई के लिए ही लिखा गया है। उसके लिए न कोई गरीबी है, न भुखमरी और न ही बेरोजगारी। देश में जब तक मनुस्मृति की वर्ण व्यवस्था की भावना कायम है तब तक ब्राह्मण सर्वोपरि 'देवता' है, वह 'भूदेव' है, पूजनीय है और उसके शत प्रतिशत के आरक्षित अधिकारों को कोई चुनौती नहीं दे सकता। मनुस्मृति के अनुसार वह समाज में सर्वोच्च, सर्वोपरि, सर्वाधिकार—सम्पन्न निरापराधी है और कोई दण्डविधान उस पर लागू नहीं होता।

मनुस्मृति की वर्ण व्यवस्था में क्षत्रिय वर्ण दूसरे स्थान पर है। राजकाज, शासन प्रशासन, सत्ता, जमीन—जायदाद पर उनका एकाधिकार है। इसलिए आजादी से पूर्व भी उसे मनुस्मृति ने जो एकाधिकार दिये थे, आजादी के बाद भारतीय संविधान लागू होने पर भी उनकी मनुमानसिकता आज भी कायम है।

क्षत्रिय वर्ण में वे सब दबंग जातियां शामिल हैं जो जोर जबरदस्ती गरीब,

(शेष पृष्ठ 3 पर)

## भारतीय दलित साहित्य अकादमी प्रकाशन

विश्व धरातल पर दलित साहित्य	डॉ. सुमनाक्षर	50/-
अंधा समाज और बहरे लोग	डॉ. सुमनाक्षर	60/-
सिन्धु घाटी बोल उठी	डॉ. सुमनाक्षर	50/-
अब नहीं रहेंगे हाशिये पर	डॉ. सुमनाक्षर	80/-
अम्बेडकर शतक	डॉ. सुमनाक्षर	50/-
विश्व विभूति डा. अम्बेडकर	डॉ. सुमनाक्षर	50/-
दलित लेखक परिचय ग्रंथ (अंग्रेजी)	डॉ. सुमनाक्षर	250/-
बुद्धा दू अम्बेडकर (अंग्रेजी)	डॉ. सुमनाक्षर	150/-
दलित साहित्य	डॉ. सुमनाक्षर	100/-
अम्बेडकर दर्शन	डॉ. सुमनाक्षर	40/-
हमारे संत और समाज सुधारक	डॉ. सुमनाक्षर	60/-
धर्म और समाज	डॉ. सुमनाक्षर	40/-
आदिम जाति चमारा	डॉ. सुमनाक्षर	300/-
(इतिहास, धर्म, संस्कृति)		
दलित उद्घोष	डा. सुमनाक्षर	80/-
दलित साहित्य की हुंकार—सात समन्दर पार	डॉ. सुमनाक्षर	100/-
युगपुरुष बाबू जगजीवनराम	डॉ. सुमनाक्षर	200/-
प्राचीन आदिम जाति वाल्मीकि	डॉ. सुमनाक्षर	100/-
(इतिहास, धर्म, संस्कृति)		
सभ्यता, संस्कृति, समाज और साहित्य	आचार्य गुरुप्रसाद	100/-
डा. अम्बेडकर भजनावली	राजमल 'राज'	25/-
हमारे दलित गौरव	राजमल 'राज'	25/-
भारत रत्न डा. वी.आर. अम्बेडकर	राजमल 'राज'	25/-
मूल भारती से दलित	राजमल 'राज'	50/-
अम्बेडकरवाद बनाम सामाजिक परिवर्तन	राजमल 'राज'	80/-
दलित साहित्य—दशा और दिशा	डा. माता प्रसाद	200/-
दलित साहित्य से सामाजिक परिवर्तन	डा. माता प्रसाद	100/-
भारत की गुलामी के 22 सौ साल	प्रदीप कुमार मोर्य	250/-
सृजन के कण	जीपी पचौरिया 'दीप'	150/-
बौद्ध धर्म—गया से अयोध्या तक	प्रदीप कुमार मोर्य	120/-
गांधी, अम्बेडकर और दलित	प्रदीप कुमार मोर्य	100/-
सत्सम दर्शन	राजमल 'राज'	100/-
जागा मेहनतकश इंसान	राजमल 'राज'	50/-
हम एक हैं	डा. माता प्रसाद	60/-
वैदास से संत शिरोमणि गुरु रविदास	डा. माता प्रसाद	50/-
ताकि सनद रहे	डा. सुमनाक्षर	100/-

पुस्तक मंगाने के लिए मनीआर्डर से राशि अग्रिम भेजें, व्यवस्थापक,

## दलित साहित्य सेन्टर

(भारतीय दलित साहित्य अकादमी)

बी-3/9, दूसरी मंजिल, माडल टाउन-1, दिल्ली-9

फोन : 27421449, 27421460, मो. 9810278936



## पृष्ठ 1 का शेष...दलित साहित्य-विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में शामिल किया जाये

विरोध कोई दक्षिण पंथ का एजेण्डा हो कई मुखर वामपंथी भी दलित साहित्य को पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं हैं। वे राजनीति में जातिविहीन समाज की बात करते हैं। उदाहरण के लिए नेशनल इन्द्र गांधी ओपन यूनिवर्सिटी के दलित साहित्य पाठ्यक्रम को देखा जा सकता है। बताया जाता है कि इस विकलांग पाठ्यक्रम निर्माण में कथित दलित प्रोफेसरों की भी भूमिका रही है। इस पाठ्यक्रम में वस्तुगत दृष्टि अपनाने के बजाय प्रोफेसरों ने न केवल संकीर्ण दृष्टि का परिचय दिया है, अपितु व्यक्तिगत दोस्ती-दुश्मनी का भी भरपूर निर्वाह किया है। वरन् क्या वजह है कि इग्नू के पाठ्यक्रम में छात्रों के लिए सर्वाधिक गुणवत्तावाली दलित आत्मकथाएं और स्तरीय दलित कहानियां और दलित कविताओं का चयन भी दृष्टि दारिद्र्य से भरा है? 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर, 'भरोसे की बहन' 'क्रॉच हूं मैं और 'नई फसल का तो सिर से बहिष्कार कर दिया गया है। यह अकादमिक दुश्मनी, ईष्या और द्वेष किसी ब्राह्मण राजपूत ने नहीं, बल्कि इग्नू के दलित प्रोफेसरों ने प्रकट किया है। छात्र प्रश्न करते हैं कि हिन्दी दलित साहित्य इतना मजबूत है तो इग्नू का पाठ्यक्रम लचर-पचर क्यों है? पाठ्यक्रम के जरिये छात्रों

की जो क्षति होती है क्या उसकी भरपाई पाठ्यक्रम निर्माता प्रोफेसर करेंगे या विश्वविद्यालय? दलित लेखकों की साहित्यिक हत्या करने वाले अपने विद्वेषपूर्ण व्यवहार और संकीर्ण सोच में बदलाव ला सकेंगे? क्या पाठ्यक्रम की विशेषज्ञों द्वारा समीक्षा कर सुधार करने की आवश्यकता नहीं है? यद्यपि यूजीसी ने विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम तीन साल में बदलने की बात कही है। उम्मीद की जाती है कि यह बदलाव अकादमिक रूप से सकारात्मक होंगे और दलित साहित्य के लिए उम्मीद रो भरे होंगे। जी.यू. इग्नू जेएनयू और जामिया मिलिया सहित उन सभी विश्वविद्यालयों में दलित आदिवासी अध्ययन केन्द्र अलग से खोलने होंगे जिनमें ये अभी तक नहीं खुले हैं।

'जूठन' जैसे शीर्षकों को लेकर भ्रम पैदा करने की स्थिति क्यों बन रही है? दलित साहित्य पर संकट इसलिए आया है कि फिलवक्त दलित समाज नेतृत्व विहीन हो चुका है, राजनीति में जिन्हें प्रतिनिधि होना था। वे दलितों की इच्छाओं, समस्याओं का कोई प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे हैं। पूछा जा सकता है कि अस्पृश्यता को प्रतिनिधित्व कौन कर रहा है? इसलिए दस-साल और बढ़ने के कगार पर आ रहा राजनैतिक आरक्षण अगर दस

साल को और बढ़ भी जाए तब भी दलित दुर्दशा में कोई कमी आएगी इसके आसार नहीं हैं, क्योंकि मुक्ति का सूत्र है समान और मुफ्त शिक्षा, जो ग्रामीण गरीबों को दिवास्वप्न हो रही है।

अब खासकर उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेश के गांवों में दलितों अतिपिछड़ों को या तो शिक्षा है नहीं, यदि है तो क्वालिटी नहीं है। बेरोजगारी और अशिक्षा ने जीवन नर्क बना दिए हैं। निराशा हताशा और बेचैनी बढ़ रही है बल्कि अनुसूचित जाति के तथाकथित अमीरों को आरक्षण से रोकने के लिए किन्हीं तिवारी जी ने याचिका दायर कर मांग की है। दिलचस्प है कि उसी दिन आक्सफेम का सर्वेक्षण आया जिसमें बताया गया कि 'देश में 2017 में कुल संपत्ति के सृजन का 73 फीसद हिस्सा केवल एक फीसद अमीर लोगों के हाथों में है।'

हमने खोजने की कोशिश की कि क्या कोई दलित इन अमीरों में शामिल है। करोड़पति कहलाने वाले दलित भी इन नामों में नहीं तो निराशा ही हाल लगनी थी। पर दलित आरक्षण में क्रिमिलेयर खोजने वाले तिवारी जी, गुप्ता जी या सक्सेना जी इसमें नहीं होंगे इसका प्रश्न ही नहीं उठता। तब आर्थिक, सामाजिक संतुलन के लिए सुधार कहां करने की जरूरत है?

दलित साहित्य और समाज की बात करने का माध्यम खास शब्द 'दलित' है। इस शब्द को कुछ लोग असंवैधानिक बता कर खारिज करने का प्रयास करते हैं। 24 जनवरी, 2018 को एक दैनिक हिंदी में ग्वालियर से कोर्ट के हवाले से खबर छपी कि 'दलित शब्द के प्रयोग से बचे सरकार : हाई कोर्ट' खबर में मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय की ओर से कहा गया कि 'केन्द्र और राज्य सरकारों को अपने पत्राचार में दलित शब्द का प्रयोग करने से बचना चाहिए, क्योंकि यह शब्द संविधान में इस्तेमाल नहीं किया गया है। पर यह मांग नहीं चली क्योंकि संविधान में कहीं नहीं लिखा है कि 'दलित' शब्द का इस्तेमाल नहीं किया जाए। इसके उलट एक खबर दक्षिण भारत के एक अंग्रेजी दैनिक में 17 नवम्बर 2016 को छपी जिसमें दलितों के प्रति हमदर्दी दिखाते हुए कहा गया कि 'दलित' शब्द अपमान सूचक है। अतः मीडिया इसका इस्तेमाल न करे, पर जब खुद दलित ही इस शब्द को अपनी स्थिति के अनुकूल पाकर अपना रहे हों, तो मीडिया को दोष नहीं दिया जा सकता। जबकि कुछ लोग 'हरिजन' शब्द का इस्तेमाल करते हैं, जबकि डा.

अम्बेडकर और स्वामी अछूतानंद ने 'हरिजन' शब्द का पुरजोर विरोध किया था। जाने अंजाने दलितों के नेता और अफसर भी 'हरिजन' शब्द दलितों के लिए इस्तेमाल करते रहे हैं। खासकर कांग्रेसी लोग। उदाहरण के लिए कांग्रेसी नेता पूर्व राज्यपाल माता प्रसाद के पत्रों का सधः प्रकाशित संकलन देखा जा सकता है, जिसमें उन्होंने स्वयं सरकारी पत्र व्यवहार में अनुसूचित जातियों को 'हरिजन' शब्द से संबोधित किया है।

अब बात 'दलित' शब्द के प्रयोग की कि जाए। महात्मा ज्योतिबा फूले और संविधान के जनक डा.बी.आर. अम्बेडकर ने 'दलित' और 'बहिष्कृत' शब्दों का प्रयोग किया है। न केवल व्यक्ति के लिए बल्कि समाज के लिए भी किया है। हमारे शोध के कुछ दस्तावेज इसका साक्ष्य देते हैं। उदाहरण के लिए 18, 19 और 20 जुलाई, 1942 को नागपुर में डा. अम्बेडकर के नेतृत्व में एक ही पंडाल में तीन सम्मेलन हुए थे, उनकी अंग्रेजी में तैयार रिपोर्ट देखी जा सकती है। यहां दलित का अंग्रेजी शब्द प्रयोग हुआ था सम्मेलन का शीर्षक था -**डिप्रेसड क्लासेस कान्फ्रेंस** था। ये तीन सम्मेलन थे-आल इंडिया डिप्रेसड क्लास इस कान्फ्रेंस, आल

# आरक्षण : सामाजिक समता का साधन

• डा. अनिल कुमार

भारतीय संविधान में दलितोत्थान के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई है। 1990 में जब वी.पी.सिंह ने पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण को लागू किया था तभी से सवर्ण आरक्षण के प्रावधान को समाप्त करने की मांग करता रहा है। उन्हें यह याद करना चाहिये कि सवर्ण समाज ने दलितों को सदियों से वंचित रखा। डा. अंबेडकर के अनुसार मनुस्मृति एक वर्ण को शस्त्र, दूसरे को शस्त्र और तीसरे को धन देकर एवं गैर दलितों को इन तीनों से वंचित रखकर उन्हें सवर्णों का गुलाम बना दिया गया। एक तरह से सवर्णों ने अपने लिए शास्त्र, शस्त्र और धन को आरक्षित कर लिया। जब सदियों से वंचित दलितों के लिए आरक्षण के प्रावधान किए गए तो अब उन्हें नागवार गुजरने लगा है। यह बात आरक्षण विरोधियों के तर्कों से स्पष्ट होती है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि विषमता भारतीय समाज की विशिष्टता है और समानता का नारा अयथार्थ है। आरक्षण को आज भी ईमानदारी से लागू नहीं किया जाता है। अगर, मगर, लेकिन की आड़ में उससे बचने की तरकीब निकाली जाती है। वस्तुतः आरक्षण सामाजिक समता का साधन है। लेकिन जिस प्रकार मनु ने चतुर्थ वर्ण बनाकर उनसे घृणित कार्य करवाने के लिए

दलित का आरक्षित कर लिया। उसी प्रकार आज भी वास्तविकता यह है कि आरक्षण में केवल चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी का कोटा ही पूरा पूरा भरा जाता है। शेष श्रेणियों की नौकारियों में आरक्षण का प्रावधान का ईमानदारी से पालन नहीं किया जाता है। सवर्ण समाज आरक्षण समाप्त करने का समर्थन करते हुए कहता है कि यदि आरक्षण न हो तो भारत में सभी समान समझे जायेंगे। लेकिन वह यह भूल जाता है कि भारतीय समाज में मनुष्य का स्तर उसके जन्म से निर्धारित होता है। कभी यह कहा जाता है कि जो लोग आरक्षण का लाभ उठाकर सम्पन्न हो चुके हैं उनके लिए आरक्षण की सुविधा समाप्त कर दी जाए। यह लोग दलितों में केवल गरीब और अशिक्षित देखना चाहते हैं। दलितों का 'गरीब और अशिक्षित तबका अपनी गरीबी और अशिक्षा के कारण आरक्षण का लाभ नहीं उठा पाता है। आरक्षण समाप्त करने की दशा में दलितों का शिक्षित और सम्पन्न तबका अपनी शिक्षा और कथित सम्पन्नता के कारण आरक्षण से वंचित रह जाएगा। प्रश्न यह उठता है कि क्या भारतीय समाज में वर्ण-विषमता समाप्त हो गई है। अगर नहीं तो आरक्षण के प्रावधान को क्यों समाप्त कर दिया जाए? आरक्षण को समाप्त करने का औचित्य तभी है जब

सवर्ण हिंदू समाज स्वेच्छा से वर्ण व्यवस्था को समाप्त करने की घोषणा करे; विषमता को व्यवस्था प्रदान करने वाले धार्मिक ग्रंथों से पूर्णतः तौबा करले और दलितों से रोटी-बेटी का संबंध स्थापित कर ले। इसके साथ-साथ सम्पूर्ण समाज सदियों से दलितों पर किए गए अत्याचार के लिए दलित समाज से माफी मांगे। जैसा कि ऑस्ट्रेलिया में गोरो ने अपने अत्याचारों के लिए कालों से माफी मांगी।

आरक्षण के संबंध में आरक्षण विरोधी यह तर्क भी देते हैं कि इसे धर्म पर आधारित नहीं होना चाहिए। वहीं दलितों के धर्मांतरण के बाद उनकी आरक्षण सुविधा को समाप्त करने का जायज करार देते हैं। यद्यपि व्यक्ति वही है और उसकी आर्थिक दशा भी वही है। जहां तक सामाजिक सम्मान की बात है यह अनुभवों से ज्ञात है कि दलित का दलितत्व इस्लाम, सिक्ख, ईसाई व बौद्ध होने पर भी नहीं छुटता है उनके साथ विषमता का व्यवहार किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। अतएव धर्मांतरित दलितों के लिए आरक्षण को समाप्त करने का कोई तुक नजर नहीं आता। इसके बावजूद यदि सवर्ण समाज केवल हिंदू दलितों के आरक्षण के पक्ष में हैं तो इसका तात्पर्य है कि वह आरक्षण को प्रलोभन

या रिश्वत के रूप में लेते हैं जो वे दलितों को हिंदू बने रहने के लिए देने को तैयार हैं। वे दलितों को लोभी या रिश्वतखोर या भिखारी समझते हैं।

वास्तव में आरक्षण भीख, रिश्वत अथवा प्रलोभन नहीं है। यह दलितों का अधिकार है; सवर्ण समाज की दया नहीं। दया अधिकार के अनुपात में हमेशा बहुत कम होती है। दलितों को सहानुभूति नहीं, अपितु अधिकार चाहिए; समान अधिकार चाहिए, इससे कुछ भी कम नहीं। आरक्षण तो केवल विषमता से संरक्षण का साधन है। संरक्षण न्याय नहीं होता, न्याय तो तब होगा जब जनसंख्या के अनुपात में शासन/प्रशासन में दलितों को स्थान दिया जायेगा। 1931 में देश में हर जाति की जनगणना हुई। स्वतंत्रता के बाद आज तक जातियों की जनगणना नहीं करायी गई। कहा जाता है कि जाति के आधार पर जनगणना से देश की एकता को खतरा है। अगर यह सही है देश की एकता और अखण्डता को बनाये रखने के लिए सवर्ण समाज जातियता को क्यों नहीं समाप्त करना चाहता है? वास्तव में जाति का जनगणना से यह स्पष्ट हो जायेगा कि देश में किस जाति के पास देश के संसाधन उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक है इसीलिए जातियों की जनगणना कराने से भारत

इंडिया डिप्रेस्ड क्लासेज विमैन कान्फ्रेंस एण्ड समता सैनिक दल कान्फ्रेंस। इन सम्मेलनों में डा. अम्बेडकर ने देश भर से नागपुर पहुंचे स्त्री पुरुषों को संबोधित किया था। अपने भाषण में उन्होंने दलित शब्द के अंग्रेजी पर्याय का भरपूर प्रयोग किया। अपनी एक किताब लिख कर पूरी करने के बाद 24 जून, 1945 को भूमिका में लिखा—'भारत सरकार अधिनियम में प्रयुक्त नाम अनुसूचित जातियां हैं। परन्तु इसका प्रयोग 1935 के बाद आरम्भ हुआ। इससे पूर्व इन्हें श्री गांधी द्वारा 'हरिजन' और सरकार द्वारा 'दलित वर्ग' कहा जाता था। 'डा. अम्बेडकर ने समाधान कारक बात कही कि 'पाठकों की प्रत्येक कठिनाई दूर हो जाएगी यदि वे यह याद रखें कि ये सभी नाम पर्यायवाची हैं और सभी एक ही वर्ग को दर्शाते हैं इसलिए यह कहना कि दलित शब्द नया है या संविधान में नहीं है, इसलिए अनुसूचित जातियों को संबोधित करते हुए इसका इस्तेमाल नहीं करना चाहिए, कहना उचित नहीं है। अनुसूचित जातियों के लिए 'दलित' एक वर्गीय शब्द है। यह समूह को संबोधित है। •

सरकार बचती रही है। अगर जातियों के आधार पर जनगणना करायी जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि सवर्ण समाज की जितनी आबादी है उससे कई गुणा अधिक देश के संसाधनों पर उनका अधिकार है। •

## सम्पादकीय का शेष...दलित जब जागें तभी सवेरा

काश्तकार, दस्तकार, भूमिहीन, खेत मजदूर लोगों को दबाये रखना चाहती हैं। इन जातियों को एक नाम 'अजगर' से भी पुकारा जाता है। ये हैं अहीर, जाट, गूजर, राजपूत।

आज भी राजपूत हों, जाट हो, या पटेल हो या अहीर सब भले ही देश के अलग-अलग प्रदेश व भू भाग में रहें, पर अपने अपने अधिकारों की लड़ाई में वे सब एक मंच पर इक्ठ्ठे हो जाते हैं। भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति (दलितों) को शिक्षण संस्थानों व सरकारी नौकरियों में उनकी आबादी के अनुसार क्रमशः 15 प्रतिशत व 7½ प्रतिशत आरक्षण मिला हुआ है। हालांकि आजादी के 70 साल बीत जाने पर भी चौथी श्रेणी के पदों को छोड़कर कभी भी अन्य श्रेणी के पदों को अभी तक नहीं भरा गया, पर गैर-दलित सवर्ण सदैव यही शोर मचाते रहते हैं कि आरक्षण कोटे के कारण सरकार की सारी नौकरियां दलित खा गये और शिक्षा संस्थानों के सारी सीटों पर उन्होंने कब्जा कर रखा है, इसलिए सवर्ण जाति के लोग पढ़ लिखकर बेरोजगार व बेकार हैं इसलिए उन्हें भी सरकारी नौकरियों व शिक्षण संस्थानों में आरक्षण चाहिए। इसी आरक्षण पाने के लिए गत वर्षों में देश में जाटों, गूजरों, राजपूतों और पटेलों का आन्दोलन हुआ। आन्दोलनकारियों ने सरकारी व

गैर-सरकारी सम्पत्तियों को आग के हवाले कर दिया, दूकानों में तोड़ फोड़ की, दलितों के घरों को निशाना बनाया गया और दलितों पर अत्याचार किये।

उन आन्दोलनकारियों को कौन समझाये कि दलितों को पिछले 5 हजार साल से अधिकार विहीन कर शस्त्र व शास्त्र से वंचित कर गुलाम व दास बनाकर सवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) उनका शोषण करते रहे, पर अब उन्हें समाज की मुख्यधारा में लाने और समता का अधिकार देने के लिए दलितों को आरक्षण कोटे का प्रावधान भारतीय संविधान में दिया गया है और यह तब तक लागू रहेगा जब तक वे दलित समाज के अन्य लोगों के साथ सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक व राजनीतिक स्तर की बराबरी पर नहीं पहुंच जाते। यह आर्थिक आधार पर दिया गये अधिकार नहीं, बल्कि सामाजिक समता के लिए दिया गया अधिकार है। सवर्ण लोगों को यह ज्ञात ही नहीं है कि अंग्रेजी हुकूमत ने तो दलितों को निर्वाचन में आरक्षण कोटे के साथ 'दो वोट' देने का अधिकार दिया था। एक वोट से वे अपनी दलित जाति के व्यक्ति का चुनाव कर सकते थे और दूसरे वोट से वे सवर्ण जाति के उम्मीदवार का चयन कर सकते थे। महात्मा गांधी को अंग्रेजी हुकूमत द्वारा दलितों को दिया 'दो वोट' के अधिकार

मंजूर नहीं था अतः बाबा साहब डा. अम्बेडकर के अथक प्रयासों से दलितों को मिले अंग्रेजी हुकूमत के विशेष अधिकारों के खिलाफ गांधी ने पूना के यरवदा जेल में आमरण अनशन शुरू कर दिया। इससे गांधी जी की जान बचाने के लिए हिन्दू नेताओं ने डा. अम्बेडकर पर दबाव डालना शुरू किया कि वह अंग्रेजी हुकूमत द्वारा दलितों के लिए घोषित अधिकारों को लौटा दें वरना गांधी जी के मरने पर देश में दलित व सवर्ण हिन्दुओं में खून खराब हो जायेगा। बाबा साहब डा. अम्बेडकर ने दलितों पर होने वाले खूनी अत्याचारों से उन्हें बचाने के लिए अंग्रेजी सरकार द्वारा दलितों को दिये विशेष अधिकारों को लौटाकर महात्मा गांधी जी के साथ दलितों को सत्ता, सरकारी नौकरियों व शिक्षण संस्थानों में आरक्षण कोटा निर्धारित करने के लिए एक नया करारनामा किया जो 'पूना पैक्ट' के नाम से जाना जाता है। 24 सितम्बर, 1932 में हुए इस पूना पैक्ट में दलितों को समाज में समान स्तर पर लाने के लिए निर्वाचन क्षेत्रों, सरकारी नौकरियों व शिक्षक संस्थानों में आरक्षण कोटे का प्रावधान दिया गया। अंग्रेजों के 'कम्युनल अवार्ड' के बदले 'पूना पैक्ट' करके बाबा साहब डा. अम्बेडकर ने महात्मा गांधी को 'जीवनदान' दिया। आजादी मिलने के बाद भारतीय

संविधान में 'पूना पैक्ट' के उसी आरक्षण कोटे के प्रावधान को कानूनी स्वीकृति प्रदान की गई। इसलिए दलितों को मिला 'आरक्षण कोटा' को भीख नहीं है, बल्कि उनकी उस कुर्बानी का अधिकार है जो उन्होंने गांधी जी की जान बचाने के लिए अंग्रेजी हुकूमत द्वारा दिये दो वोट के अधिकार व अन्य आरक्षण कोटे के प्रावधानों को छोड़ा था। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त दलितों का आरक्षण कोटा तक तक कायम रहेगा जब तक वे समाज के अन्य वर्ग के सामान्य स्तर पर नहीं पहुंच जाते।

देश में मनुस्मृति की जाति व वर्ण व्यवस्था आज भी कायम है। दलितों को जिस घृणा व हेय दृष्टि से देखा जाता था, वह नजरिया आज भी मौजूद है। सवर्ण जाति के समर्थ लोग दलितों को मिले संवैधानिक आरक्षण कोटे के प्रावधान का ही विरोध नहीं करते बल्कि आज भी वे दलितों के उनकी तरह पोशाक पहनने, मूँछे रखने, नाम रखने, घुड़सवारी करने, घोड़े पर बैठकर दुल्हे की बारात निकालने, उनके कुँओ पर चढ़ने पर बर्बरता पूर्ण अत्याचार, अपमान, अन्याय, उत्पीड़न करते हैं और अपने हाथ में कानून लेकर दलितों की जान लेने से भी नहीं हिचकते। दलितों पर सवर्ण हिन्दू अत्याचार क्यों करते हैं? इसका उत्तर इतिहास में

आक्रमणकारी योद्धा थे, वहीं मूलनिवासी द्राविण अनार्य शान्तिप्रिय, धर्मपरायण, प्रेमभाव से ओत प्रोत थे, इसलिए वे अपने संघर्ष की लड़ाई में ज्यादा नहीं टिक सके और परास्त होकर उनके गुलाम बन गये। पांच हजार साल से आर्य व अनार्यों के बीच यह सत्ता संघर्ष निरन्तर चलता आ रहा है। आर्यों की बर्बरता का यह वीभत्स रूप आज भी दलितों पर सवर्णों के हो रहे उत्पीड़न व बलात्कार की घटनाओं से साफ नजर आता है।

आर्यों के ऋग्वेद में प्रारम्भ में तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का ही वर्णन है। मूल निवासियों को दास बनाकर उन्हें चौथे शूद्र वर्ण के रूप में बाद में जोड़ा गया और उनकी उत्पत्ति पैरों से बताई गई। वेदों के अनुसार जहां तीनों वर्णों को कर्त्तव्य के साथ अधिकार भी दिये गये हैं, वहीं चौथे शूद्र वर्ण को 'दास' के रूप में केवल अपने मालिक की सेवा करने का कर्त्तव्य दिया गया है और शिक्षा-शास्त्र, सम्पत्ति-सत्ता से विहीन करके उसको मालिक की जूठन खाने, उसकी उतरन पहनने और नीचे जमीन पर सोने का प्रावधान किया गया।

देश के आजाद होने के बाद जहां दलितों को भारतीय संविधान में सवर्ण हिन्दुओं के बराबर समानता, स्वतंत्रता, बन्धुता के अधिकार मिले हुए, वहीं उन्हें निर्वाचनों, शिक्षण संस्थानों व

# इनका सशक्तीकरण कब होगा?

• विनय जायसवाल

एक दिन की बात है, मेरी एक सहकर्मी की कामवाली अचानक भाग गई। यह सुनते ही उसके के हाथ-पांव फूल गए, क्योंकि वह अपनी करीब पांच साल की बच्ची को उसी के भरोसे छोड़ कर दफतर जाती थी। वह किसी अनहोनी से घबरा उठी और घर भागी। बेटी को सकुशल पाकर उसकी जान में जान आई। हालांकि कामवाली उसका मोबाइल और शायद कोई एक पर्स भी उठा ले गई थी, लेकिन बेटी के सकुशल होने से, वह उस गम को भूल गई। इस तरह के वाक्यों से लेकर उनको यातना देने की खबरें आए दिन आती रहती हैं। इसका कारण महानगरीय, शहरी समेत अब कस्बाई जीवन में भी मेड या कामवाली बाई की बढ़ती अहमियत है, क्योंकि पिछले कुछ दशकों में शिक्षा और जागरूकता की वजह से महिलाओं के एक बड़े तबके ने 'हाउस वाइफ' बनने की जगह अपनी पसंद की नौकरी या व्यवसाय के जरिए अपनी खुद की पहचान बनाने का रास्ता चुना है। ऐसे में विवाह और बच्चे होने के बाद पति और पत्नी दोनों की मुश्किलें बढ़ने लगती हैं। इन मुश्किलों से न केवल दोनों के बीच तनाव बढ़ता है बल्कि बच्चों की परवरिश पर असर पड़ता है। ऐसे में घर के दूसरे कामों के साथ-साथ बच्चों के लालन-पालन

के लिए भी घरेलू सहायिका पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। पूर्णकालिक सहायिका अब महानगरीय और शहरी जीवन की विवशता बनती जा रही है। इसके पीछे दो मुख्य कारण हैं, पहला पति परंपरावादी पुरुष की अपनी छवि से बाहर नहीं निकल पाया है, और दूसरा, शहरी जीवन में संयुक्त परिवार के लिए गुंजाइश निरंतर कम होती गई है। नगरों और महानगरों ही नहीं, अब कस्बों में रहने वाले पति या पत्नी या कई बार दोनों अपने जीवन में किसी तरह का कोई रोक-टोक नहीं चाहते हैं। यही कारण है कि दोनों में से कोई भी अपने अन्य परिवारजनों को साथ में नहीं रखना चाहते हैं, जिसका खमियाजा उन्हें रोजमर्रा की जिंदगी जीने में झेलना पड़ता है। खासकर बच्चों को प्यार करने वाला या उनके साथ समय बिताने वाला कोई अपना नहीं होता। मां-बाप भी बच्चों को घरेलू सहायिका के भरोसे छोड़ देते हैं और बच्चे भी उन्हीं के साथ जीना सीख जाते हैं।

नौकरीशुदा महिलाओं की विवशता तो समझी जा सकती है लेकिन नई पीढ़ी की 'हाउस वाइफ' भी घर के काम खुद करने में शर्म महसूस करती है। यही कारण है कि भारत के महानगरों और शहरों और उनसे जुड़े उपनगरीय इलाकों में 'डोमेस्टिक हेल्प सर्विस'

का एक बहुत बड़ा बाजार खड़ा हो चुका है। घरेलू नौकरानी के रूप में काम करनी वाली महिलाओं की एक बड़ी तादाद देश के पिछड़े, गरीब, दलित समुदायों और आदिवासी इलाकों से आती है। इनमें से अधिकतर वे महिलाएं होती हैं, जो शहरों में रोजगार खोजने आए अपने पति या परिवार के साथ आती हैं। इस तरह की महिलाएं कई घरों में कुछ-कुछ घंटे काम करती हैं लेकिन इनकी आमदनी बहुत कम होती है। शहरों में पूर्णकालिक सहायिका उपलब्ध कराने के लिए अब ढेर सारी एजेंसियां खुल गई हैं। इस तरह की अधिकतर एजेंसियां न तो पंजीकृत हैं और न ही इनकी कोई सीधी जिम्मेदारी है। आए दिन खबरें मिलती हैं कि आदिवासी और अन्य पिछड़े इलाकों से किशोर लड़कियों को झांसा देकर लाया जाता है और उन्हें शहरों में रहने वाले पढ़े-लिखे और पैसे वाले लोग एक बार की कीमत अदा करके या फिर मासिक तनखाह पर रख लेते हैं, जिसमें से एक बड़ी राशि एजेंसी वाले हड़प जाते हैं।

भारत में घरेलू सहायिका के रूप में काम करने वाली महिलाओं की बड़ी संख्या बंधुआ मजदूर जैसा जीवन जीने को विवश है। सामान्यतः उनके साथ ऐसा व्यवहार किया जाता है, जैसे खुद उनकी अपनी कोई जरूरत

है। पं. जवाहर लाल नेहरू पं. गंगाधर तिलक आदि का कहना है कि हिन्दू आर्यों की संतान है, जो यूरोशिया से चलकर भारत आये। वे वहां से अपने पशुओं को लेकर चारे की खोज में भारत आये और यहां के मूल निवासी द्रविणों (दलितों) की समुन्नत, हरीभरी, सुरम्य, सुखद आंखों को शान्ति देने वाली, धन दौलत की चकाचौंध से भरी सिन्धु घाटी की सभ्यता और उसके सुन्दर सुनियोजित नगरों को देखकर इन पर कब्जा करने के लिए यहां के मूल निवासियों के सथ बर्बरता पूर्ण, जघन्य अपराध करते हुए दुर्व्यवहार किया, उनके नदी पर सिंचाई के लिए बनाये गये बांधों को तोड़ दिया। जिससे मूल निवासी अनार्यों (दलितों) के नगर उस में डूब गये। ऐसी स्थिति में अपनी जान बचाने के लिए वे, दक्षिण की ओर चले गये, कुछ सघन वन व पहाड़ों पर चले गये। कुछ मूल निवासी द्रविड़ उनसे सीधे भिड़ गये और अपनी मातृभूमि को बचाने के लिए संघर्ष करते रहे। विदेशी आर्य व मूल निवासी, द्रविड़ों के बीच यह संघर्ष सैकड़ों साल तक चलता रहा है। आर्यों के ऋग्वेद में इसका वर्णन हम दशराज युद्ध के रूप में पाते हैं। विदेशी आर्य खुंखार

सरकारी नौकरियों में उनकी आबादी के अनुपात में 'आरक्षण कोटा' का विशेष अधिकार मिला हुआ ताकि इसका लाभ लेकर वे अन्य सवर्णों की तरह सम्पन्नता की मूलधारा में आ सकें। पर सवर्णों के- 'डी.एन.ए' में किसी तरह सहिष्णुता, बन्धुता, भाईचारा और समता का भाव दिखाई नहीं देता। उनके रक्त में बर्बरता, क्रूरता, घोंस-धींगामसती, जबरन छीना-झपड़ी, बेबात खून खराबा, अनाधिकार चेष्टा, बलात्कार, दुराचार, अन्याय के बीज समाये हुए हैं जो दलितों व उनकी महिलाओं के साथ हर रोज घटने वाली अत्याचार व उत्पीड़न की घटनाओं के रूप में उभरकर सामने आते हैं। उन्हें न तो देश के संविधान कर डर है, न उसमें दिये कानून का। उन्हें तो अपने धन बल और बाहूबल के सामने देश का न्यायिक दंड विधान बौना दिखाई देता है, इसलिए वे दलितों पर अत्याचार करने से बाज नहीं आ रहे। अब दलितों को सोचना होगा कि वे क्या करें जिससे उन पर होने वाले सवर्णों के अत्याचार बन्द हों। यही समय है सोचने का। दलित जब जागें। तभी सवेरा। •

— डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर

नहीं है, वे बस अमीर लोगों की सेवा करने के लिए जनमी हैं। इस तरह का व्यवहार उनमें से कुछ में समाज और व्यवस्था के प्रति गुस्सा पैदा करता है और कभी-कभी यह अपराध की

शक्ल अख्तियार कर लेता है। लेकिन सवाल यह भी है कि घरेलू सहायकों और सहायिकों के साथ होने वाले अपराधों का भी क्या उतनही ही संजदगी से संज्ञान लिया जाता है? •

## ‘दलित’ शब्द के पीछे क्यों पड़े हैं?

• भंवर मेघवंशी

‘दलित’ शब्द दलन से अभिप्रेत है, जिसका दलन हुआ, शोषण हुआ, वो दलित के रूप में जाने पहचाने गये।

‘दलित’ शब्द दुधारी तलवार है, यह अछूत समुदायों को साथ लाने वाला एकता वाचक अल्फाज है, इससे जाति की घेराबंदी कमजोर होती है और शोषितों की जमात निर्मित होती है, जो कतिपय तत्वों को पसंद नहीं है।

दलित शब्द कुछ समूहों को अपराध बोध भी करवाता है कि तुमने दलन किया, इस वजह से लोग दलित हैं, जिन पर दलन का आरोप यह शब्द स्वतः मढ़ता है, उन्हें यह शब्द कभी पसन्द नहीं रहा। वे सदैव इस शब्द को मिटा देने को कमर कसे रहे हैं।

‘दलित’ शब्द का सबसे पहले प्रयोग सन 1831 में ‘मोल्सवर्थ डिक्शनरी’ में हुआ था। बाद में यह 1920 के बाद तब ज्यादा प्रचलित हुआ जब स्वामी श्रद्धानंद ने ‘दलित उद्धार सभा’ बनाई।

साहित्य में ‘दलित’ शब्द सन 1929 में ‘अणिमा’ पत्रिका में छपी एक

कविता ‘दलित जन करे पुकार’ से जानकारी में आता है, जिसे हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने लिखा था। बाद में 70 के दशक में महाराष्ट्र से दलित साहित्य की बेहद मजबूत धारा विकसित हुई, जो साहित्य की कथित मुख्यधारा के लिये चुनौती बन गई। दलित साहित्य ने अपनी विशिष्ट पहचान कायम की, जिससे भी बुद्धिजीवी वर्ग का वर्चस्व शाली तबका भयंकर आहत हुआ। वह भी ‘दलित’ शब्द से खफा हो गया।

बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर ने भी ‘दलित’ शब्द का प्रयोग किया। वे अंग्रेजी में अधिकांश समय ‘डिप्रेसड’ शब्द काम में लेते थे, जिसका हिन्दी अनुवाद ‘दलित’ के रूप में किया जाता रहा है।

1972 में महाराष्ट्र में ‘दलित पैथर्स’ नामक संगठन बना, जिसके संस्थापक नामदेव ढसाल, राजा ढाले और अरुण कांबले थे। इसने आम जनता की जबान पर ‘दलित’ शब्द को लोकप्रियता प्रदान की।

उत्तर भारत में मान्यवर कांशीराम ने ‘दलित’ शब्द को प्रचलन में लाने का काम किया। उन्होंने ‘दलित शोषित

संघर्ष समिति’ (डी एस 4) गठित की, जिसका प्रसिद्ध नारा था—‘ठाकुर, ब्राह्मण, बनिया छोड़—बाकी सब है डी एस. फोर’।

80 के दशक में ‘दलित साहित्य अकादमी’ अस्तित्व में आई। जगह—जगह दलित साहित्य सम्मेलन होने लगे। दलित राजनीति, दलित मीडिया, दलित विमर्श जैसी अवधारणाएं संज्ञात हुईं।

1990 में उदारीकृत आर्थिक नीतियों की शुरुआत के बाद एनजीओ जगत फला फूला, जिसने खुद को सिविल सोसायटी कहा, नागरिक समाज की इस दुनिया में अनुसूचित जातियों के लिए ‘दलित’ और अनुसूचित जनजातियों के लिए ‘आदिवासी’ पहचानों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुंचाया।

21वीं सदी के शुरुआती समय में डरबन में हुई नस्ल विरोधी अंतर्राष्ट्रीय कॉन्फ्रेंस में जातिजन्य भेदभाव का मुद्दा गूंजा, जो दलित संगठनों की बड़ी सफलता थी। इसमें राष्ट्रीय दलित मानवाधिकार अभियान तथा नैक्डोर जैसे सिविल सोसायटी ऑर्गेनाइजेशन की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

2006 के बाद ‘दलित’ शब्द प्रतिरोध का पर्याय बन गया। देश भर में दलित अधिकार अभियान शुरू हुए। मीडिया में दलित अत्याचारों पर काफी चर्चा होने लगी। कुल मिलाकर ‘दलित’ एक स्वतंत्र सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक धारा बन गई। इस जागृति को दलित चेतना कहा गया।

निरन्तर बलवती होती जा रही ‘दलित चेतना’ ने प्रभुत्व सम्पन्न वर्ग को असहज कर दिया। वे इस दलित चेतना को पलट देना चाह रहे थे, लेकिन डरते भी थे कि कहीं उन्हें ही दलित विरोधी नहीं मान लिया जाये, इसलिए उन्होंने ‘राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग’ को आगे किया। आयोग के अध्यक्ष बूटा सिंह ने मोर्चा संभाला और उन्होंने एक परिपत्र जारी किया कि ‘दलित’ शब्द संविधान में नहीं है, इसलिए यह असंवैधानिक है।

मैंने उन्हें एक खुला पत्र लिखा जो बाद में प्रकाशित भी हुआ, जिसमें मैंने बूटा सिंह से कहा कि संविधान कोई ‘शब्दकोश’ नहीं है कि उसमें हर शब्द हो और यह कहना भी मूर्खता की पराकाष्ठा ही है कि जो शब्द

करते हैं, अब उन्होंने अपनी सरकारों और निर्दयी न्यायिक व्यवस्था के जरिए मिटाने का अभियान छेड़ दिया है।

छत्तीसगढ़ और राजस्थान के बाद अब केंद्र सरकार ने सरकारी कामकाज में ‘दलित’ शब्द के प्रयोग पर पाबंदी लगा दी है। राजस्थान की भाजपा सरकार ने तो यहां तक घोषणा की है कि वह न ‘दलित’ शब्द का प्रयोग करेगी और ना ही करने देगी।

दरअसल, इस सख्ती के पीछे आरएसएस है, जो 2 अप्रैल के भारत बंद में लगे ‘दलित मुस्लिम एकता जिन्दबाद’ के नारों से बेहद खफा है। उन्होंने तय किया है कि ‘दलित’ शब्द ही मिटा दो तो नारे अपने आप ही नष्ट हो जायेंगे, न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी! सारा टंटा ही खत्म! पर क्या यह शब्द किसी सरकार की कृपा का मोहताज है? यह तो लोक में मान्य और प्रचलित शब्द है, जो हर तरह की रोक के बावजूद जिन्दा ही रहेगा और बोला तथा लिखा भी जायेगा। इसे कोई खत्म नहीं कर पायेगा। जिस तर्क से दलित पहचान को नष्ट किया जा रहा है, अगर हमने उन्हें स्वीकार किया तो दलित ही नहीं,

# दलित होने का दंश

जनसत्ता

हमारे संविधान में सबको बराबरी का अधिकार है। सबसे कमजोर समुदायों के लिए कुछ विशेष प्रावधान भी हैं। इस पर सबके बावजूद आए दिन ऐसी खबरें आती हैं जो बताती हैं कि जाति की जकड़न, जाति का अहंकार और जातिगत उत्पीड़न का सिलसिला बदस्तूर कायम है। इसके सबसे ज्यादा शिकार दलित होते हैं। दलित सदियों से भेदभाव, अपमान और त्रास झेलते आए हैं। पर आज भी उन्हें यह सब सहना पड़े, तो यह हमारे लोकतांत्रिक होने पर सवालिया निशान है। दरअसल, ऐसी स्थिति एक बड़ी विडंबना को दर्शाती है, वह यह कि हमने लोकतांत्रिक व्यवस्था को भले अपना लिया हो, लोकतांत्रिक मूल्य हमारी सामाजिक चेतना का अंग नहीं बन पाए हैं, या वे हाशिये पर ही हैं।

पिछले हफ्ते की अहमदाबाद की एक घटना इस सिलसिले में गौरतलब है। अहमदाबाद जिले के एक स्कूल में कुर्सी पर बैठने का लेकर एक दलित महिला पर कुछ लोगों ने हमला बोल दिया। आंगनबाड़ी में कार्यरत इस महिला को आधार कार्ड बांटने की जिम्मेदारी दी गई थी। पर उसका कुर्सी पर बैठे होना एक स्थानीय व्यक्ति को इतना नागवार गुजरा कि उसने

कुर्सी को पैर से मारा, जिससे वह महिला गिर पड़ी। पर इतने से उस व्यक्ति को संतोष नहीं हुआ, वह और कुछ दूसरे लोग उस महिला के घर पहुंचे और उसके परिवार के सदस्यों पर डंडों तथा धारदार हथियारों से हमला बोल दिया। पुलिस ने इस मामले में तीन व्यक्तियों को गिरफ्तार किया है। हो सकता है जल्दी ही कुछ और आरोपी भी पकड़ लिये जाएं।

जाहिर है, यह कानून-व्यवस्था का कोई सामान्य मामला नहीं है। ऐसी घटनाएं प्रगति के हमारे दावों पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं। गुजरात की गिनती देश के उन्नत राज्यों में होती है। इस संदर्भ में गुजरात मॉडल की भी काफी चर्चा हो चुकी है। पर क्या विकास का मतलब केवल बड़े बांध, फ्लाईओवर, एफडीआई वगैरह ही हैं, या इसमें समानता, भाईचारा, सामाजिक शांति और सौहार्द को भी शामिल किया जाना चाहिए? कोई अरसा नहीं बीता, जब ऊना कांड को लेकर गुजरात सुर्खियों में था। उसके बाद गुजरात में कभी किसी दलित को लंबी मूंछ रखने पर तो कभी किसी दलित को घुड़सवारी करने के कारण अगड़ों का कोपभाजन बनना पड़ा। अन्य राज्यों में भी दलित दूल्हे को घोड़ी या घोड़े पर चढ़कर न

जाने देना, दलित सरपंच को पंद्रह अगस्त या 26 जनवरी को राष्ट्रीय ध्वज न फहराने देना, मिड-डे मील के वक्त दलित बच्चों को अलग बिठाया जाना आदि घटनाएं बताती हैं कि हमारे संवैधानिक प्रावधानों और सामाजिक हकीकत के बीच आजादी के सात दशक बाद भी कितनी चौड़ी खाई है।

यह खाई काफी हद तक पाटी जा सकी होती, अगर हमारे राजनीतिक दल दलितों के लिए सचमुच संजीदा होते। यों तो आए दिन उनके बीच दलितों की दुहाई देने की होड़ लगी रहती है, पर इसमें दिखावा ही अधिक होता है। प्रशासन और समूचे समाज को दलितों के प्रति संवेदनशील बनाना तो दूर, वे अपने अधिकतर कार्यकर्ताओं को भी वैसा नहीं बना पाए हैं। इसलिए दलित के नाम पर राजनीति में शोर चाहे जितना सुनाई दे, दलितों के कड़वे यथार्थ का सामना करने का माददा नहीं दिख रहा। हमारे राजनीतिक दल दलितों के वोट तो पाना चाहते हैं, पर उनके लिए कुछ खोने को यानी जोखिम उठाने को तैयार नहीं हैं। क्या राजनीति का काम केवल सत्ता हासिल करना है, या समाज बदलना भी है। •

संविधान में नहीं है, वो सब असंवैधानिक ही है। मैंने सरदार बूटा सिंह जी को याद दिलाया कि उनका और उनके पिताजी का नाम भी मुझे संविधान की किताब में नहीं मिला तो क्या उन्हें गैर संवैधानिक मान लिया जाये?

खैर, सन 2008 से ही सुनियोजित तरीके से 'दलित' शब्द को खत्म करने की कोशिशें की जा रही हैं, मगर यह शब्द बड़ा ताकतवर मालूम पड़ता है, यह मिटने के बजाय बढ़ता ही जा रहा है। भारी विरोध के बावजूद आज 'दलित' एक अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त शब्द है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी से लेकर दुनिया भर की तमाम यूनिवर्सिटीज में 'दलित' एक अकादमिक शब्द के रूप में प्रचलित है।

हालांकि यह जातिवाचक संज्ञा नहीं है मगर इससे भारत में हजारों साल से जारी घृणित जातिजन्य भेदभाव, अन्याय और अत्याचार वाली व्यवस्था की जानकारी मिल जाती है, जो कि इस देश के शोषक समुदाय को 'गिल्टी फील' करवाता रहता है, इसलिए उसने इस शब्द को मिटा देने का प्रण ले लिया।

दलित विरोधी कट्टरपंथी संगठन 'दलित' शब्द से बहुत नफरत करते हैं। वे उन्हें 'वंचित' कहना पसन्द

बल्कि बहुजन और मूलनिवासी शब्द भी प्रतिबंधित किये जायेंगे, क्योंकि संविधान तो उनको भी मान्यता नहीं देता है। वहां तो सिर्फ अनुसूचित जाति और जनजाति जैसी जातिवाचक पहचाने ही उल्लेखित है। तो क्या करें? भूल जाएं दलित, बहुजन और मूलनिवासी शब्द। बन जायें वंचित, शूद्र, अछूत, अधम..ढोर, गंवार... ताड़न के अधिकारी? •

## हिमायती

हिन्दी पाक्षिक पत्र

अम्बेडकर मिशन का प्रतिनिधि पत्र है। इसे मंगाइये, पढ़िए और दूसरों को पढ़ाइये। इससे जन चेतना जागृत होगी और दलित संघर्ष तीव्र होगा। इसका सहयोग वार्षिक शुल्क 100/- मनीआर्डर से आज ही भेजें—

सम्पादक :  
हिमायती

बी 3/9, दूसरी मंजिल,  
माडल टाउन-1, दिल्ली-9  
मो. 9810278936,  
फोन : 011-27421449